☐ **देवेन्द्र मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न**
[प्रसिद्ध विद्वान, अनुसंधाता एवं पचासों ग्रन्थों के लेखक]

जन्म, जरा, मरण, आधि-व्याधि एवं उपाधि से मुक्त होने की जिज्ञासा जब जगी तो दर्शन की यात्रा प्रारम्भ हुई और 'मोक्ष' पर उसे अन्तिम मंजिल मिली।

'मोक्ष' प्राप्ति के विषय में भारतीय चिन्तक कितनी गहराई तक पहुँचे और कितनी ऊँचाई को स्पर्श कर पाये, इसका प्रमाण-पुरस्सर विवेचन यहाँ प्रस्तुत है।

भारतीय चिन्तन में—

मोक्ष और मोक्षमार्ग

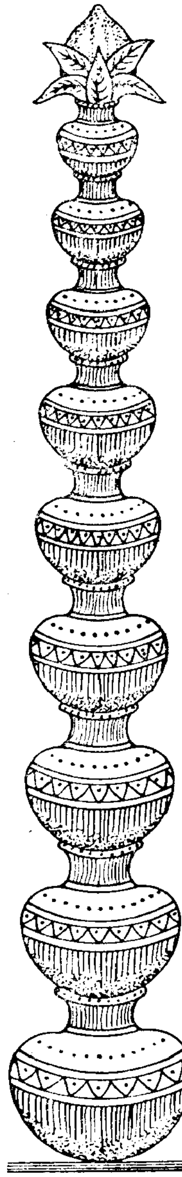

☐

दर्शनशास्त्र के जगत में तीन दर्शन मुख्य माने गये हैं—यूनानी दर्शन, पश्चिमी दर्शन और भारतीय दर्शन। यूनानी दर्शन का महान चिन्तक अरिस्टोटल (अरस्तु) माना जाता है। उसका अभिमत है कि दर्शन का जन्म आश्चर्य से हुआ है।[1] इसी बात को प्लेटो ने भी स्वीकार किया है। पश्चिम के प्रमुख दार्शनिक डेकार्ट, काण्ट, हेगल प्रभृति ने दर्शनशास्त्र का उद्भावक तत्त्व संशय माना है।[2] भारतीय दर्शन का जन्म जिज्ञासा से हुआ है[3] और जिज्ञासा का मूल दुःख में रहा हुआ है। जन्म, जरा, मरण, आधि-व्याधि और उपाधि से मुक्त होकर समाधि प्राप्त करने के लिए जिज्ञासाएँ जागृत हुईं। अन्य दर्शनों की भाँति भारतीय दर्शन का ध्येय ज्ञान प्राप्त करना मात्र नहीं है अपितु उसका लक्ष्य दुःखों को दूर कर परम व चरम सुख को प्राप्त करना है। भारतीय दर्शन का मूल्य इसलिए है कि वह केवल तत्त्व के गम्भीर रहस्यों का ज्ञान ही नहीं बढ़ाता अपितु परम शुभ मोक्ष को प्राप्त करने में भी सहायक है। भारतीय दर्शन केवल विचार प्रणाली नहीं किन्तु जीवन प्रणाली भी है। वह जीवन और जगत के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण प्रदान करता है।

मोक्ष भारतीय दर्शन का केन्द्र-बिन्दु है। श्री अरविन्द मोक्ष को भारतीय विचारधारा का एक महान् शब्द मानते हैं। भारतीय दर्शन की यदि कोई महत्त्वपूर्ण विशेषता है जो उसे पाश्चात्य दर्शन से पृथक् करती है तो वह मोक्ष का चिन्तन है। पुरुषार्थ चतुष्टय में मोक्ष को प्रमुख स्थान दिया गया है। धर्म साधन है तो मोक्ष साध्य है। मोक्ष को केन्द्र-बिन्दु मानकर ही भारतीय दर्शन[4] फलते और फूलते रहे हैं।

मैं यहाँ पर मोक्ष और मोक्ष मार्ग पर तुलनात्मक दृष्टि से चिन्तन प्रस्तुत कर रहा हूँ।

भारतीय आत्मवादी परम्परा को वैदिक, जैन, बौद्ध और आजीविक इन चार भागों में विभक्त कर सकते हैं। वर्तमान में आजीविक दर्शन का कोई भी स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, अतः आजीविक द्वारा प्रतिपादित मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध में चिन्तन न कर शेष तीन की मोक्ष सम्बन्धी विचारधारा पर चिन्तन करेंगे।

न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा, ये छह दर्शन वैदिक परम्परा में आते हैं। पूर्वमीमांसा मूल रूप से कर्म मीमांसा है, भले ही वह वर्तमान में उपनिषद् या मोक्ष पर चिन्तन करती हो, पर प्रारम्भ में उसका चिन्तन मोक्ष सम्बन्धी नहीं था।[5] किन्तु अवशेष पाँच दर्शनों ने मोक्ष पर चिन्तन किया है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि इन वैदिक दर्शनों में आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में जैसा विचार भेद है वैसा मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध में भी चिन्तन-भेद है। यहाँ तक कि एक-दूसरे दर्शन की कल्पना पृथक्-पृथक् ही नहीं अपितु एक-दूसरे से बिलकुल विपरीत भी है। जिन दर्शनों ने उपनिषद् ब्रह्मसूत्र आदि को अपना मूल आधार माना है उनकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कल्पना में भी एकरूपता नहीं है। कोई परम्परा जीवात्मा और परमात्मा में भेद मानती है, कोई सर्वथा अभेद मानती है और कोई भेदाभेद मानती है। कोई परम्परा आत्मा को व्यापक मानती है[६] तो कोई अणु मानती है,[७] कोई परम्परा आत्मा को अनेक मानती है तो कोई एक मानती है, पर यह एक सत्य-तथ्य है कि वैदिक परम्परा के सभी दार्शनिकों ने किसी न किसी रूप में आत्मा को कूटस्थ नित्य माना है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन

वैशेषिकदर्शन के प्रणेता कणाद और न्यायदर्शन के प्रणेता अक्षपाद ये दोनों आत्मा के सम्बन्ध में एकमत हैं। दोनों ने आत्मा को कूटस्थ नित्य माना है। इनकी दृष्टि में आत्मा एक नहीं अनेक हैं, जितने शरीर हैं उतनी आत्माएँ हैं। यदि एक ही आत्मा होती तो हम विराट विश्व में जो विभिन्नता देखते हैं वह नहीं हो सकती थी।

न्याय और वैशेषिक दर्शन ने आत्मा को चेतन कहा है। उनके अभिमतानुसार चेतन आत्मा का स्वाभाविक गुण नहीं अपितु आगन्तुक (आकस्मिक) गुण है। जब तक शरीर, इन्द्रिय और सत्त्वात्मक मन आदि का सम्बन्ध रहता है तब तक उनके द्वारा उत्पन्न ज्ञान आत्मा में होता है। ऐसे ज्ञान को धारण करने की शक्ति चेतन में है, पर वे ऐसा कोई स्वाभाविक गुण चेतन में नहीं मानते हैं जो शरीर, इन्द्रिय, मन आदि का सम्बन्ध न होने पर भी ज्ञान गुण रूप में या विषय ग्रहण रूप में आत्मा में रहता हो। न्याय-वैशेषिक दर्शन की प्रस्तुत कल्पना अन्य वैदिक दर्शनों के साथ मेल नहीं खाती है। सांख्य दर्शन, योग दर्शन एवं आचार्य शंकर, रामानुज, मध्व, वल्लभ प्रभृति जितनी भी वेद और उपनिषद् दर्शन की धारायें हैं वे इस बात को स्वीकार नहीं करतीं।[८] न्याय-वैशेषिक की दृष्टि से मोक्ष की अवस्था में आत्मा सभी प्रकार के अनुभवों को त्यागकर केवल सत्ता में रहता है। वह उस समय न शुद्ध आनन्द का अनुभव कर सकता है और न शुद्ध चैतन्य का ही। आनन्द और चेतना ये दोनों ही आत्मा के आकस्मिक गुण हैं और मोक्ष अवस्था में आत्मा सभी आकस्मिक गुणों का परित्याग कर देता है, अतः निर्गुण होने से आनन्द और चैतन्य भी मोक्ष की अवस्था में उसके साथ नहीं रहते।

न्याय-वैशेषिक दर्शन ने मोक्ष का स्वरूप बताते हुए कहा—यह दुःखों को आत्यन्तिक निवृत्ति है।[९] दुःखों का ऐसा नाश है कि भविष्य में पुनः उनके होने की सम्भावना नष्ट हो जाती है।

न्यायसूत्र पर भाष्य[१०] करते हुए वात्स्यायन लिखते हैं कि जब तत्त्वज्ञान के द्वारा मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है तब उसके परिणामस्वरूप सभी दोष भी दूर हो जाते है। दोष नष्ट होने से कर्म करने की प्रवृत्ति भी समाप्त हो जाती है। कर्म प्रवृत्ति समाप्त हो जाने से जन्म-मरण के चक्र रुक जाते हैं और दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है।[११] न्यायवार्तिककार ने उसे सभी दुःखों का आत्यन्तिक अभाव कहा है।[१२] मोक्ष में बुद्धि, सुख, दुःख इच्छा, द्वेष, संकल्प, पुण्य, पाप तथा पूर्व अनुभवों के संस्कार इन नौ गुणों का आत्यन्तिक उच्छेद हो जाता है।[१३] उनकी दृष्टि से मोक्ष इसलिए परम पुरुषार्थ है कि उसमें किसी भी प्रकार का दुःख और दुःख के कारण का अस्तित्व नहीं है। वे मोक्ष की साधना इसलिए नहीं करते कि उसके प्राप्त होने पर कोई चैतन्य के सुख जैसा सहज और शाश्वत गुणों का अनुभव होगा।

स्याद्वाद मञ्जरी में मल्लिषेण ने लिखा है—न्याय-वैशेषिकों के मोक्ष की अपेक्षा तो सांसारिक जीवन अधिक श्रेयस्कर है, चूंकि सांसारिक जीवन में तो कभी-कभी सुख मिलता भी है, पर न्याय-वैशेषिकों के मोक्ष में तो सुख का पूर्ण अभाव है।[१४]

कर्मयोगी श्रीकृष्ण का एक भक्त तो न्याय-वैशेषिकों के मोक्ष की अपेक्षा वृन्दावन में सियार बनकर रहना अधिक पसंद करता है।[१५] श्री हर्ष भी उपहास करते हुए उनके मोक्ष को पाषाण के समान अचेतन और आनन्दरहित बताते हैं।[१६]

न्याय वैशेषिक व्यावहारिक अनुभव के आधार पर समाधान करते हैं कि सच्चा साधक पुरुषार्थी, मात्र अनिष्ट के परिहार के लिए ही प्रयत्न करता है। ऐसा अनिष्ट परिहार करना ही उसका सुख है। मोक्ष स्थिति में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावात्मक चैतन्य या आनन्द मानने के लिए कोई आधार नहीं है। उनके मन्तव्यानुसार मोक्ष नित्य या अनित्य ज्ञान, सुख रहित केवल द्रव्य रूप से आत्म तत्त्व की अवस्थिति है।

सांख्य और योगदर्शन

सांख्य और योग ये दोनों पृथक्-पृथक् दर्शन हैं, पर दोनों में अनेक बातों में समानता होने से यह कहा जा सकता है कि एक ही दार्शनिक सिद्धांत के ये दो पहलू हैं। एक सैद्धान्तिक है, तो दूसरा व्यावहारिक है। सांख्य तत्त्व मीमांसा की समस्याओं पर चिन्तन करता है तो योग कैवल्य को प्राप्त करने के लिए विभिन्न साधनों पर बल देता है।

सांख्य पुरुष और प्रकृति के द्वैत का प्रतिपादन करता है। पुरुष और प्रकृति ये दोनों एक-दूसरे से पूर्ण रूप से भिन्न है। प्रकृति सत्व, रज और तम इन तीनों की साम्यावस्था का नाम है। प्रकृति जब पुरुष के सान्निध्य में आती है तो उस साम्यावस्था में विकार उत्पन्न होते हैं जिसे गुण-क्षोभ कहा जाता है। संसार के सभी जड़ पदार्थ प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं पर प्रकृति स्वयं किसी से उत्पन्न नहीं होती। ठीक इसके विपरीत पुरुष न किसी पदार्थ को उत्पन्न करता है और न वह स्वयं किसी अन्य पदार्थ से उत्पन्न है। पुरुष अपरिणामी, अखण्ड, चेतना या चैतन्य मात्र है। बंध और मोक्ष ये दोनों वस्तुतः प्रकृति की अवस्था हैं।[17] इन अवस्थाओं का पुरुष में आरोप या उपचार किया जाता है। जैसे अनन्ताकाश में उड़ान भरता हुआ पक्षी का प्रतिबिम्ब निर्मल जल में गिरता है, जल में वह दिखाई देता है, वह केवल प्रतिबिम्ब है, वैसे ही प्रकृति के बंध और मोक्ष पुरुष में प्रतिबिम्बित होते हैं।

सांख्य और योग पुरुष को एक नहीं किन्तु अनेक मानता है, यह जो अनेकता है वह संख्यात्मक है, गुणात्मक नहीं है। एकात्मवाद के विरुद्ध उसने यह आपत्ति उठाई है कि यदि पुरुष एक ही है तो एक पुरुष के मरण के साथ सभी का मरण होना चाहिए। इसी प्रकार एक के बंध और मोक्ष के साथ सभी का बंध और मोक्ष होना चाहिए। इसलिए पुरुष एक नहीं अनेक है। न्याय-वैशेषिकों के समान वे चेतना को आत्मा का आगन्तुक धर्म नहीं मानते हैं। चेतना पुरुष का सार है। पुरुष चरम ज्ञाता है। स्वरूप की दृष्टि से पुरुष, वैष्णव वेदान्तियों की आत्मा, जैनियों के जीव और लाईबनित्स के चिद् अणु के सदृश है।

सांख्य दृष्टि से बंधन का कारण अविद्या या अज्ञान है। आत्मा के वास्तविक स्वरूप को न जानना ही अज्ञान है। पुरुष अपने स्वरूप को विस्मृत होकर स्वयं को प्रकृति या उसकी विकृति समझने लगता है, यही सबसे बड़ा अज्ञान है। जब पुरुष और प्रकृति के बीच विवेक जागृत होता है—'मैं पुरुष हूँ, प्रकृति नहीं,' तब उसका अज्ञान नष्ट हो जाता है और वह मुक्त हो जाता है।

कपिल मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध में विशेष चर्चा नहीं करते। वे तथागत बुद्ध के समान सांसारिक दुःखों की उत्पत्ति और उसके निवारण का उपाय बतलाते हैं किन्तु कपिल के पश्चात् उनके शिष्यों ने मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध में चिन्तन किया है। बन्धन का मूल कारण यह है—पुरुष स्वयं के स्वरूप को विस्मृत हो गया। प्रकृति या उसके विकारों के साथ उसने तादात्म्य स्थापित कर लिया है, यही बंधन है। जब सम्यग्ज्ञान से उसका वह दोषपूर्ण तादात्म्य का भ्रम नष्ट हो जाता है तब पुरुष प्रकृति के पंजे से मुक्त होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, यही मोक्ष है। सांख्यदर्शन में मोक्ष की स्थिति को कैवल्य भी कहा है।

सांख्य दृष्टि से पुरुष नित्य मुक्त है। विवेक ज्ञान के उदय होने से पहले भी वह मुक्त था, विवेक ज्ञान उदय होने पर उसे यह अनुभव होता है कि वह तो कभी भी बंधन में नहीं पड़ा था, वह तो हमेशा मुक्त ही था, पर उसे प्रस्तुत तथ्य का परिज्ञान न होने से वह अपने स्वरूप को भूलकर स्वयं को प्रकृति या उसका विहार समझ रहा था। कैवल्य और कुछ भी नहीं उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान है।

सांख्य-योगसम्मत मुक्ति स्वरूप में एवं न्याय-वैशेषिकसम्मत मुक्ति स्वरूप में यह अन्तर है कि न्याय-वैशेषिक के अनुसार मुक्ति दशा में आत्मा का अपना द्रव्य रूप होने पर भी वह चेतनामय नहीं है। मुक्ति दशा में चैतन्य के स्फुरणा या अभिव्यक्ति जैसे व्यवहार को अवकाश नहीं है। मुक्ति में बुद्धि, सुख आदि का आत्यन्तिक उच्छेद होकर आत्मा केवल कूटस्थ नित्य द्रव्य रूप से अस्तित्व धारण करता है। सांख्य-योग की दृष्टि से आत्मा सर्वथा निर्गुण है, स्वतः प्रकाशमान चेतना रूप है और सहज भाव से अस्तित्व धारण करने वाला है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार मुक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दशा में चैतन्य और ज्ञान का अभाव है तो सांख्य-योग की दृष्टि से उसका सद्भाव है। यह दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है किन्तु जब हम दोनों पक्षों की पारिभाषिक प्रक्रिया की ओर ध्यान केन्द्रित करते हैं तो तात्त्विक दृष्टि से दोनों पक्षों की मान्यता में विशेष कोई महत्त्व का अन्तर नहीं है। न्याय-वैशेषिक दर्शन ने शरीर, इन्द्रिय आदि सम्बन्धों की दृष्टि से बुद्धि, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष आदि गुणों का मोक्ष में आत्यन्तिक उच्छेद माना है और संसार दशा में वे उन गुणों का अस्तित्व आत्मा में स्वीकारते हैं। सांख्य और योग दर्शन सुख-दुःख, ज्ञान-अज्ञान, इच्छा-द्वेष आदि भाव पुरुष में न मानकर अन्तःकरण के परिणाम रूप मानते हैं और उसकी छाया पुरुष में गिरती है, वही आरोपित संसार है, एतदर्थ वे मुक्ति की अवस्था में जब सात्विक बुद्धि का उसके भावों के साथ प्रकृति का आत्यन्तिक विलय होता है तब पुरुष के व्यवहार में सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष प्रभृति भावों की और कर्तृत्व की छाया का भी आत्यन्तिक अभाव हो जाता है। सांख्य-योग आत्म-द्रव्य में गुणों का उपादान कारणत्व स्वीकार कर उस पर चिन्तन करता है। वह द्रव्य और गुण के भेद को वास्तविक मानता है। जबकि न्याय-वैशेषिक पुरुषों में ऐसा कुछ भी न मानकर प्रकृति के प्रपंच द्वारा ही ये सभी विचार-व्यवहार होते हैं, ऐसे भेद को वह आरोपित गिनता है।

चौबीस तत्त्ववादी प्राचीन सांख्य परम्परा की बंध मोक्ष प्रक्रिया पच्चीस तत्त्ववादी सांख्य परम्परा से पृथक् है। वह मोक्ष अवस्था में बुद्धि सत्त्व और उसमें समुत्पन्न होने वाले सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, ज्ञान-अज्ञान प्रभृति भावों का मूल कारण प्रधान में आत्यन्तिक विलय मानकर मुक्त स्वरूप का वर्णन करता है किन्तु वह यों नहीं कहता कि मुक्त आत्मा यानि चेतना, चूंकि प्रस्तुत वाद में प्रकृति से भिन्न ऐसी चेतना को अवकाश नहीं है। चौबीस तत्त्ववादी सांख्य और न्याय-वैशेषिक की विचारधारा में बहुत अधिक समानता है। प्रथम पक्ष की दृष्टि से मोक्ष अवस्था में प्रकृति के कार्य प्रपंच का अत्यन्त विलय होता है और द्वितीय पक्ष मुक्ति दशा में आत्मा के गुणप्रपंच का अत्यन्त अभाव स्वीकार करता है। प्रथम ने जिसे कार्यप्रपंच कहा है उसे ही दूसरे ने गुणप्रपंच कहा। दोनों के आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में यत्किंचित् अन्तर है, वह केवल परिणामीनित्यत्व और कूटस्थनित्यत्व के एकान्तिक परिभाषा भेद के कारण से है।

ज्ञान, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष प्रभृति गुणों का उत्पाद और विनाश वस्तुतः आत्मा में होता है। यह मानने पर भी न्याय-वैशेषिक दर्शन आत्मा को कुछ अवस्थान्तर के अतिरिक्त अर्थ में कूटस्थनित्य वर्णित करता है। यह कुछ विचित्र-सा लगता है पर उसका रहस्य उसके भेदवाद में सन्निहित है।

न्याय-वैशेषिकदर्शन ने गुण-गुणी में अत्यन्त भेद माना है। जब गुण उत्पन्न होते हैं या नष्ट होते हैं तब उसके उत्पाद और विनाश का स्पर्श उसके आधारभूत गुणी द्रव्य को नहीं होता। जो यह अवस्थाभेद है वह गुणी का नहीं, अपितु गुणों का है। इसी प्रकार वे आत्मा को कर्त्ता, भोक्ता, बद्ध या मुक्त वास्तविक रूप में स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त अवस्था भेद की आपत्ति युक्ति, प्रयुक्ति से पृथक् कर कूटस्थनित्यत्व की मान्यता से चिपके रहते हैं। सांख्य-योग दर्शन न्याय-वैशेषिक के समान गुण-गुणी का भेद नहीं मानता है। न्याय-वैशेषिक के समान गुणों का उत्पाद-विनाश मानकर पुरुष का कूटस्थनित्यत्व का रक्षण नहीं किया जा सकता, अतः उसने निर्गुण पुरुष मानने की पृथक् राह अपनाई।[१८]

उन्होंने कर्तृत्व, भोक्तृत्व, बंध, मोक्ष आदि अपस्थाएँ पुरुष में उपचरित मानी है और कूटस्थ नित्यत्व पूर्णरूप से घटित किया है।

केवलाद्वैती शंकर या अणुजीववादी रामानुज तथा वल्लभ ये सभी मुक्ति दशा में चैतन्य और आनन्द का पूर्ण प्रकाश या आविर्भाव अपनी-अपनी दृष्टि से स्वीकार कर कूटस्थनित्यता घटित करते हैं। एक दृष्टि से देखें तो औपनिषद् दर्शन की कल्पना न्याय-वैशेषिक दर्शन के साथ उतनी मेल नहीं खाती जितनी सांख्य-योग के साथ मेल खाती है। सभी औपनिषद् दर्शन मुक्ति अवस्था में सांख्य-योग के समान शुद्ध चेतना रूप में ब्रह्म तत्त्व या जीव तत्त्व का अवस्थान स्वीकार करते हैं।[१९]

बौद्धदर्शन

अन्य दर्शनों में जिसे मोक्ष कहा है उसे बौद्धदर्शन ने निर्वाण की संज्ञा प्रदान की है। बुद्ध के अभिमतानुसार जीवन का चरम लक्ष्य दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति है, अथवा निर्वाण है। क्योंकि समस्त दृश्य सत्ता अनित्य है, क्षणभंगुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, एवं अनात्म है, एकमात्र निर्वाण ही साध्य है।[२०] निर्वाण बौद्धदर्शन का महत्त्वपूर्ण शब्द है। प्रो० मूर्ति ने बौद्ध दर्शन के इतिहास को निर्वाण का इतिहास कहा है।[२१] प्रोफेसर यदुनाथ सिन्हा निर्वाण को बौद्ध शीलाचार का मूलाधार मानते हैं।[२२]

अभिधम्म महाविभाषा शास्त्र में निर्वाण शब्द की अनेक व्युत्पत्तियाँ बताई हैं। जैसे वाण का अर्थ पुनर्जन्म का रास्ता और निर् का अर्थ छोड़ना है अतः निर्वाण का अर्थ हुआ स्थायी रूप से पुनर्जन्म के सभी रास्तों को छोड़ देना।

वाण का दूसरा अर्थ दुर्गन्ध और निर् का अर्थ 'नहीं' है अतः निर्वाण एक ऐसी स्थिति है जो दुःख देने वाले कर्मों की दुर्गन्ध से पूर्णतया मुक्त है।

वाण का तीसरा अर्थ घना जंगल है और निर् का अर्थ है स्थायी रूप से छुटकारा पाना।

वाण का चतुर्थ अर्थ बुनना है और निर् का अर्थ नहीं है अतः निर्वाण ऐसी स्थिति है जो सभी प्रकार के दुःख देने वाले कर्मों रूपी धागों से जो जन्म-मरण का धागा बुनते हैं उनसे पूर्ण मुक्ति है।[२३]

पाली टेक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित पाली-अंग्रेजी शब्द कोष में 'निव्वान' शब्द का अर्थ बुझ जाना किया है। अमर कोष में भी यही अर्थ प्राप्त होता है।

रीज डेविड्स थॉमस, आनन्द कुमार—स्वामी, पी० लक्ष्मीनरसु, दाहल मेन, डा० राधाकृष्णन्, प्रो० जे० एन० सिन्हा, डा० सी० डी० शर्मा प्रभृति अनेक विज्ञों का यह पूर्ण निश्चित मत है कि निर्वाण व्यक्तित्व का उच्छेद नहीं है अपितु यह नैतिक पूर्णत्व की ऐसी स्थिति है जो आनन्द से परिपूर्ण है।

डा० राधाकृष्णन लिखते हैं—निर्वाण न तो शून्य रूप है और न ही ऐसा जीवन है जिसका विचार मन में आ सके, किन्तु यह अनन्त यथार्थ सत्ता के साथ ऐक्यभाव स्थापित कर लेने का नाम है, जिसे बुद्ध प्रत्यक्षरूप से स्वीकार नहीं करते हैं।[२४]

बुद्ध की दृष्टि से 'निव्वान' उच्छेद या पूर्ण क्षय है परन्तु यह पूर्ण क्षय आत्मा का नहीं है। यह क्षय लालसा, तृष्णा, जिजीविषा एवं उनकी तीनों जड़ें राग, जीवन धारण करने की इच्छा और अज्ञान का है।[२५]

प्रो० मेक्समूलर लिखते हैं कि यदि हम धम्मपद के प्रत्येक श्लोक को देखें जहाँ पर निर्वाण शब्द आता है तो हम पायेंगे कि एक भी स्थान ऐसा नहीं हैं जहाँ पर उसका अर्थ उच्छेद होता हो। सभी स्थान नहीं तो बहुत अधिक स्थान ऐसे हैं जहाँ पर हम निर्वाण शब्द का उच्छेद अर्थ ग्रहण करते हैं तो वे पूर्णतः अस्पष्ट हो जाते हैं।[२६]

राजा मिलिन्द की जिज्ञासा पर नागसेन ने विविध उपमायें देकर निर्वाण की समृद्धि का प्रतिपादन किया है।[२७] जिससे यह स्पष्ट होता है कि बुद्ध का निर्वाण न्याय-वैशेषिकों के मोक्ष के समान केवल एक निषेधात्मक स्थिति नहीं है।

तथागत बुद्ध ने अनेक अवसरों पर निर्वाण को अव्याकृत कहा है। विचार और वाणी द्वारा उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। प्रसेनजित के प्रश्नों का उत्तर देती हुई खेमा भिक्षुणी ने कहा—जैसे गंगा नदी के किनारे पड़े हुए रेत के कणों को गिनना कथमपि सम्भव नहीं है, या सागर के पानी को नापना सम्भव नहीं है उसी प्रकार निर्वाण की अगाधता को नापा नहीं जा सकता।[२८]

बुद्ध के पश्चात् उनके अनुयायी दो भागों में बंट गये, जिन्हें हीनयान और महायान कहा जाता है। अन्य सिद्धान्तों के साथ उनके शिष्यों में इस सम्बन्ध में मतभेद हुआ कि हमारा लक्ष्य हमारा ही निर्वाण है या सभी जीवों का निर्वाण है? बुद्ध के कुछ शिष्यों ने कहा—हमारा लक्ष्य केवल हमारा ही निर्वाण है। दूसरे शिष्यों ने उनका प्रतिवाद करते हुए कहा—हमारा लक्ष्य जीवन मात्र का निर्वाण है। प्रथम को द्वितीय ने स्वार्थी कहा और उनका तिरस्कार करने के लिए उनको हीनयान कहा और अपने आपको महायानी कहा। स्वयं हीनयानी इस बात को स्वीकार नहीं करते, वे अपने आपको थेरवादी (स्थविरवादी) कहते हैं।

संक्षेप में सार यह है कि बुद्ध ने स्वयं निर्वाण के स्वरूप के सम्बन्ध में अपना स्पष्ट मन्तव्य प्रस्तुत नहीं किया, जिसके फलस्वरूप कतिपय विद्वानों ने निर्वाण का शून्यता के रूप में वर्णन किया है तो कतिपय विद्वानों ने निर्वाण को प्रत्यक्ष आनन्ददायक बताया है।[२९]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनदर्शन

वैदिकदर्शन व बौद्धदर्शन में जिस प्रकार मोक्ष और निर्वाण के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं; वैसे जैनदर्शन में किसी भी सम्प्रदाय में मतभेद नहीं है। मेरी दृष्टि से इसका मूल कारण यह है कि वेदों के मोक्ष के सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं की गई और वैदिक आचार्यों ने उसे आधार बनाकर और अपनी कमनीय कल्पना की तूलिका से उसके स्वरूप का चित्रण किया है।

बौद्ध साहित्य का पर्यवेक्षण करने से यह स्पष्ट परिज्ञात होता है कि तथागत बुद्ध ने अपने आपको सर्वज्ञ नहीं कहा है। उन्होंने अपने शिष्यों को यह आदेश दिया कि तुम मेरे कथन को भी परीक्षण-प्रस्तर पर कस कर देखो कि वस्तुतः वह सत्य तथ्ययुक्त है या नहीं, किन्तु भगवान महावीर ने अपने आपको सर्वज्ञ बताकर और सर्वज्ञ के वचनों पर पूर्ण विश्वास रखने की प्रबल प्रेरणा प्रदान की। जिसके कारण जैनधर्म में श्रद्धा की प्रमुखता रही। सर्वज्ञ के वचन के विपरीत तर्क करना बिलकुल ही अनुचित माना गया, जिससे तत्त्वों के सम्बन्ध में या मोक्ष के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का मतभेद नहीं हो सका।

जैनदर्शन परिणामी नित्यता के सिद्धान्त को मान्य करता है किन्तु प्रस्तुत सिद्धान्त सांख्य-योग के समान केवल जड़ अर्थात् अचेतन तक ही समर्पित नहीं है। उसका यह वज्र आघोष है कि चाहे जड़ हो या चेतन सभी परिणामी नित्य हैं। यहाँ तक कि यह परिणामी नित्यता द्रव्य के अतिरिक्त उसके साथ होने वाली शक्तियों (गुण पर्यायों) को भी व्याप्त करता है।

जैनदर्शन आत्म द्रव्य को न्याय-वैशेषिक के समान व्यापक नहीं मानता और रामानुज के समान आत्मा को अणु भी नहीं मानता किन्तु वह आत्म-द्रव्य को मध्यम परिणामी मानता है। उसमें संकोच और विस्तार दोनों गुण रहे हुए हैं, जो जीव एक विराट्काय हाथी के शरीर में रहता है वही जीव एक नन्ही-सी चींटी में भी रहता है। द्रव्य रूप से जीव शाश्वत है किन्तु परिणाम की दृष्टि से उसकी अवस्थाओं में परिवर्तन होता है। परिणामी सिद्धान्त को मानने के कारण जैनदर्शन ने स्पष्ट रूप से यह माना है कि जिस शरीर से जीव मुक्त होता है, उस शरीर का जितना आकार होता है उससे तृतीय भाग न्यून विस्तार सभी मुक्त जीवों का होता है।[२६]

स्मरण रखना चाहिए कि आत्मा में जो संकोच और विस्तार होता है वह कर्मजन्य शरीर के कारण से है। मुक्तात्माओं में शरीराभाव होने से उसमें संकोच और विस्तार नहीं हो सकता। मुक्तात्माओं में जो आकृति की कल्पना की गई है वह अन्तिम शरीर के आधार से की गई है। मुक्त जीव में रूपादि का अभाव है तथापि आकाश प्रदेशों में जो आत्म प्रदेश ठहरे हुए हैं उस अपेक्षा से आकार कहा है।

प्रस्तुत जैनदर्शन की मान्यता सम्पूर्ण भारतीय दर्शन की मान्यता से पृथक् है। यह जैनदर्शन की अपनी मौलिक देन है। इसका मूल कारण यह है कि कितने ही दर्शन आत्मा को व्यापक मानते हैं तो कितने ही दर्शन आत्मा को अणु मानते हैं। इस कारण मोक्ष में आत्मा का परिणाम क्या है उसे वे स्पष्ट नहीं कर सके हैं, किन्तु जैनदर्शन की मध्यम परिणाम की मान्यता होने से मुक्ति दशा में आत्मा के परिणाम के सम्बन्ध में एक निश्चित मान्यता है।

जैनदर्शन के अनुसार मुक्त आत्म द्रव्य में सहभू—चेतना, आनन्द आदि शक्तियाँ अनावृत्त होकर पूर्ण विशुद्ध रूप से ज्ञान, सुख आदि रूप में प्रतिपल प्रतिक्षण परिणमन करती रहती हैं, वह मात्र कूटस्थनित्य नहीं अपितु शक्ति रूप से नित्य होने पर प्रति समय होने वाले नित्य नूतन सदृश परिणाम प्रवाह के कारण परिणामी है। यह जैनदर्शन का मोक्षकालीन आत्मस्वरूप अन्य दर्शनों से अलग-अलग है। उसमें अन्य दर्शनों के साथ समानता भी है। द्रव्य रूप से स्थिर रहने के सम्बन्ध में न्याय-वैशेषिक दर्शनों के साथ उसका मेल बैठता है और सांख्य-योग एवं अद्वैत दर्शनों के साथ सहभू गुण की अभिव्यक्ति या प्रकाश के सम्बन्ध में समानता है। यद्यपि योगाचार या विज्ञानवादी बौद्ध शाखा के ग्रन्थों से यह बहुत स्पष्ट रूप से फलित नहीं होता तथापि यह ज्ञात होता है कि वह मूल में क्षणिकवादी होने से मुक्ति काल में आलय विज्ञान को विशुद्ध मानकर उसका निरन्तर क्षण प्रवाह माने तभी बौद्धदर्शन की मोक्षकालीन मान्यता संगत बैठ सकती है। यदि वे इस प्रकार मानते हैं तो जैनदर्शन की मान्यता के अत्यधिक सन्निकट हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुक्ति-स्थान

मुक्त ब्रह्मभूत या निर्वाण प्राप्त आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में चिन्तन के पश्चात् यह प्रश्न है कि विदेह मुक्ति प्राप्त करने के पश्चात् आत्मा कौनसे स्थान पर रहता है क्योंकि चेतन या अचेतन जो द्रव्य रूप है उसका स्थान अवश्य होना चाहिए।

दार्शनिकों ने प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर मान्यता भेद होने से विविध दृष्टियों से दिया है।

न्याय-वैशेषिक, सांख्य और योग जिस प्रकार आत्मा को व्यापक मानते हैं उसी प्रकार अनेक आत्मा मानते हैं, वे आत्म विभुत्ववादी भी हैं और आत्मबहुत्ववादी भी हैं। उनकी दृष्टि से मुक्त अवस्था का क्षेत्र सांसारिक क्षेत्र से पृथक् नहीं है। मुक्त और संसारी आत्मा में अन्तर केवल इतना ही है कि जो सूक्ष्म शरीर अनादि अनन्तकाल से आत्मा के साथ लगा था, जिसके परिणामस्वरूप नित्य-नूतन स्थूल शरीर धारण करना पड़ता था, उसका सदा के लिये सम्बन्ध नष्ट हो जाने से स्थूल शरीर धारण करने की परम्परा भी नष्ट हो जाती है। जीवात्मा या पुरुष परस्पर सर्वथा भिन्न होकर मुक्ति दशा में भी अपने-अपने भिन्न स्वरूप में सर्वव्यापी हैं।

केवलाद्वैतवादी ब्रह्मवादी भी ब्रह्म या आत्मा को व्यापक मानते हैं किन्तु न्याय-वैशेषिक, सांख्य और योग के समान जीवात्मा का वास्तविक बहुत्व नहीं मानते। उनका मन्तव्य है कि मुक्त होने का अर्थ है सूक्ष्म शरीर या अन्तःकरण का सर्वथा नष्ट होना, उसके नष्ट होते ही उपाधि के कारण जीव की ब्रह्मस्वरूप से जो पृथकता प्रतिभासित होती थी, वह नहीं होती। तत्त्व रूप से जीव ब्रह्म स्वरूप ही था, उपाधि नष्ट होते ही वह केवल ब्रह्मस्वरूप का ही अनुभव करता है। मुक्त और सांसारी आत्मा में अन्तर यही है कि एक में उपाधि है, दूसरे में नहीं है। उपाधि के अभाव में परस्पर भेद भी नहीं है, वह केवल ब्रह्मस्वरूप ही है।

अणुजीवात्मवादी वैष्णव परम्पराओं की कल्पनायें पृथक्-पृथक् हैं रामानुज विशिष्टाद्वैती हैं। वे वस्तुतः जीव-बहुत्व को मानते हैं। किन्तु जीव का परब्रह्म वासुदेव से सर्वथा भेद नहीं है। जब जीवात्मा मुक्त होता है तब वासुदेव के धाम बैकुण्ठ या ब्रह्मलोक में जाता है, वह वासुदेव के सान्निध्य में उसके अंश रूप से उसके सदृश होकर रहता है।

मध्व जो अणुजीववादी हैं, वे जीव को परब्रह्म से सर्वथा भिन्न मानते हैं किन्तु मुक्त जीव की स्थिति विष्णु के सन्निधान में अर्थात् लोकविशेष में कल्पित करते हैं।

शुद्धाद्वैती वल्लभ भी अणुजीववादी हैं किन्तु साथ ही वे परब्रह्म परिणामवादी हैं। उनका मन्तव्य है कि कुछ भक्त जीव ऐसे हैं जो मुक्त होने पर अक्षर ब्रह्म में एक रूप हो जाते हैं और दूसरे पुष्टि भक्ति जीव ऐसे हैं जो परब्रह्म स्वरूप होने पर भी भक्ति के लिए पुनः अवतीर्ण होते हैं और मुक्तवत् संसार में विचरण करते हैं।

बौद्धदृष्टि से

बौद्धदर्शन की दृष्टि से जीव या पुद्‌गल कोई भी शाश्वत द्रव्य नहीं है, अतः पुनर्जन्म के समय वे जीव का एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना नहीं मानते हैं। उनका अभिमत यह है कि एक स्थान पर एक चित्त का निरोध होता है और दूसरे स्थान पर नये चित्त की उत्पत्ति होती है।

राजा मिलिन्द ने आचार्य नागसेन से प्रश्न किया कि पूर्वादि दिशाओं में ऐसा कौन-सा स्थान विशेष है जिसके सन्निकट निर्वाण स्थान की अवस्थिति है।

आचार्य ने कहा—निर्वाण स्थान कहीं किसी दिशा विशेष में अवस्थित नहीं है, जहाँ पर जाकर यह मुक्तात्मा निवास करती हो।

प्रतिप्रश्न किया गया—जैसे समुद्र में रत्न, फूल में गंध, खेत में धान्य आदि का स्थान नियत है वैसे ही निर्वाण का स्थान भी नियत होना चाहिए। यदि निर्वाण का स्थान नहीं है तो फिर यह क्यों नहीं कहते कि निर्वाण भी नहीं है।

नागसेन ने कहा—राजन् ! निर्वाण का नियत स्थान न होने पर भी उसकी सत्ता है। निर्वाण कहीं पर बाहर नहीं है। उसका साक्षात्कार अपने विशुद्ध मन से करना पड़ता है। जैसे दो लकड़ियों के संघर्ष से अग्नि पैदा होती है यदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोई यह कहे कि पहले अग्नि कहाँ थी तो यह नहीं कहा जा सकता वैसे ही विशुद्ध मन से निर्वाण का साक्षात्कार होता है किन्तु उसका स्थान बताना सम्भव नहीं है।

राजा ने पुनः प्रश्न किया—हम यह मान लें कि निर्वाण का नियत स्थान नहीं है, तथापि ऐसा कोई निश्चित स्थान होना चाहिए जहाँ पर अवस्थित रहकर पुद्गल निर्वाण का साक्षात्कार कर सके।

आचार्य ने उत्तर देते हुए कहा—राजन्! पुद्गल शील में प्रतिष्ठित होकर किसी भी आकाश प्रदेश में रहते हुए निर्वाण का साक्षात्कार कर सकता है।[३०]

जैनदर्शन

जैनदर्शन की दृष्टि से आत्मा का मूल स्वभाव ऊर्ध्वगमन है।[३१] जब वह कर्मों से पूर्ण मुक्त होता है तब वह ऊर्ध्वगमन करता है और ऊर्ध्वलोक के अग्रभाग पर अवस्थित होता है क्योंकि आगे धर्मास्तिकाय का अभाव है अतः वह आगे जा नहीं सकता। वह लोकाग्रवर्ती स्थान सिद्धशिला के नाम से विश्रुत है। जैन साहित्य में सिद्धशिला का विस्तार से निरूपण है, वैसा निरूपण अन्य भारतीय साहित्य में नहीं है।

एक बात स्मरण रखनी चाहिए कि जैन दृष्टि से मानव लोक ४५ लाख योजन का माना गया है तो सिद्ध क्षेत्र भी ४५ लाख योजन का है। मानव चाहे जिस स्थान पर रहकर साधना के द्वारा कर्म नष्ट कर मुक्त हो सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मोक्ष आत्मा का पूर्ण विकास है और पूर्ण रूप से दुःख-मुक्ति है।

मोक्षमार्ग

अब हमें मोक्षमार्ग पर चिन्तन करना है। जिस प्रकार चिकित्सा पद्धति में रोग, रोगहेतु, आरोग्य और भैषज्य इन चार बातों का ज्ञान परमावश्यक[३२] वैसे ही आध्यात्मिक साधना पद्धति में (१) संसार, (२) संसार हेतु, (३) मोक्ष, (४) मोक्ष का उपाय, इन चार का ज्ञान परमावश्यक है।[३३]

वैदिक परम्परा का वाङ्मय अत्यधिक विशाल है। उसमें न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा, उत्तर-मीमांसा प्रभृति अनेक दार्शनिक मान्यतायें हैं। किन्तु उपनिषद् एवं गीता जैसे ग्रन्थरत्न हैं जिन्हें सम्पूर्ण वैदिक परम्पराएँ मान्य करती हैं। उन्हीं ग्रन्थों के चिन्तन-सूत्र के आधार पर आचार्य पतंजलि ने साधना पर विस्तार से प्रकाश डाला है। उसमें हेय[३४], हेयहेतु[३५], हान[३६] और हानोपाय[३७] इन चार बातों पर विवेचन किया है। न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन ने भी इन चार बातों पर संक्षेप में प्रकाश डाला है।[३८]

तथागत बुद्ध ने इन चार सत्यों को आर्यसत्य कहा है। (१) दुःख (हेय), (२) दुःखसमुदय (हेयहेतु) (३) दुःखनिरोध (हान), (४) दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद् (हानोपाय)[३९]।

जैनदर्शन ने इन चार सत्यों को (१) बन्ध, (२) आस्रव, (३) मोक्ष (४) और संवर के रूप में प्रस्तुत किया है।

बंध—शुद्ध चैतन्य के अज्ञान से राग-द्वेष प्रभृति दोषों का परिणाम है, इसे हम हेय अथवा दुःख भी कह सकते हैं।

आस्रव का अर्थ है जिन दोषों से शुद्ध चैतन्य बंधता है या लिप्त होता है इसे हम हेयहेतु या दुःखसमुदय भी कह सकते हैं।

मोक्ष का अर्थ है—सम्पूर्ण कर्म का वियोग। इसे हम हान या दुःखनिरोध कह सकते हैं।

संवर—कर्म आने के द्वार को रोकना यह मोक्षमार्ग है। इसे हम हानोपाय या निरोधमार्ग भी कह सकते हैं।

सामान्य रूप से चिन्तन करें तो ज्ञात होगा कि सभी भारतीय आध्यात्मिक परम्पराओं ने चार सत्यों को माना है। संक्षेप में चार सत्य भी दो में समाविष्ट किये जा सकते हैं—

(१) बंध—जो दुःख या संसार का कारण है और
(२) उस बंध को नष्ट करने का उपाय।

प्रत्येक आध्यात्मिक साधना में संसार का मुख्य कारण अविद्या माना है। अविद्या से ही अन्य राग-द्वेष, कषाय-क्लेश आदि समुत्पन्न होते हैं। आचार्य पतंजलि ने अविद्या, अस्मिता, रागद्वेष और अभिनिवेश इन पांच क्लेशों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का निर्देश कर अविद्या में सभी दोषों का समावेश किया है। उन्होंने अविद्या को सभी क्लेशों की प्रसवभूमि कहा हैं।[४०] इन्हीं पाँच क्लेशों को ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में पांच विपर्यय के रूप में चित्रित किया है।[४१] महर्षि कणाद ने अविद्या को मूल दोष के रूप में बताकर उसके कार्य के रूप में अन्य दोषों का सूचन किया है।[४२] अक्षपाद अविद्या के स्थान पर 'मोह' शब्द का प्रयोग करते हैं। मोह को उन्होंने सभी दोषों में मुख्य माना है। यदि मोह नहीं है तो अन्य दोषों की उत्पत्ति नहीं होगी।[४३]

कठोपनिषद्[४४] श्रीमद् भगवद्गीता[४५] और ब्रह्मसूत्र में भी अविद्या को ही मुख्य दोष माना है।

मज्झिमनिकाय आदि ग्रन्थों में तथागत बुद्ध ने संसार का मूल कारण अविद्या को बताया है। अविद्या होने से ही तृष्णादि दोष समुत्पन्न होते हैं।[४६]

जैनदर्शन ने संसार का मूल कारण दर्शनमोह और चारित्रमोह को माना है। अन्य दार्शनिकों ने जिसे अविद्या, विपर्यय, मोह या अज्ञान कहा है उसे ही जैनदर्शन ने दर्शनमोह या मिथ्यादर्शन के नाम से अभिहित किया है। अन्य दर्शनों ने जिसे अस्मिता, राग, द्वेष या तृष्णा कहा है उसे जैनदर्शन ने चारित्रमोह या कषाय कहा है। इस प्रकार वैदिक, बौद्ध और जैन परम्परा संसार का मूल अविद्या या मोह को मानती हैं और सभी दोषों का समावेश उसमें करती हैं।

संसार का मूल अविद्या है तो उससे मुक्त होने का उपाय विद्या है। एतदर्थ कणाद ने विद्या का निरूपण किया है। पतंजलि ने उस विद्या को विवेकख्याति कहा है। अक्षपाद ने विद्या और विवेकख्याति के स्थान पर तत्त्वज्ञान या सम्यग्ज्ञान पद का प्रयोग किया है। बौद्ध साहित्य में उसके लिए मुख्य रूप से 'विपस्सना' या प्रज्ञा शब्द व्यवहृत हुए हैं। जैनदर्शन में भी सम्यग्ज्ञान शब्द का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार सभी भारतीय दर्शनों की परम्पराएँ विद्या तत्त्वज्ञान, सम्यग्ज्ञान, प्रज्ञा आदि से अविद्या या मोह का नाश मानती हैं और उससे जन्म परम्परा का अन्त होता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से अविद्या का अर्थ है अपने निज स्वरूप के ज्ञान का अभाव। आत्मा, चेतन या स्वरूप का अज्ञान ही मूल अविद्या है। यही संसार का मूल कारण है।

वैदिक परम्परा ने साधना के विविध रूपों का वर्णन किया है किन्तु संक्षेप में गीता में ज्ञान, भक्ति और कर्म, इन तीनों अंगों पर प्रकाश डाला है।

तथागत बुद्ध ने (१) सम्यग् दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वाक्, (४) सम्यक् कर्मान्त (५) सम्यक् आजीव (६) सम्यक् व्यायाम, (७) सम्यक् स्मृति और (८) सम्यक् समाधि को आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग कहा है।[४८] और मार्गों में उसे श्रेष्ठ बताया है।[४९] बुद्धघोष ने संक्षेप में उसे शील, समाधि और प्रज्ञा कहा है।[५०]

जैनदर्शन ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्षमार्ग कहा है।[५१]

इस प्रकार समन्वय की दृष्टि से देखा जाये तो ज्ञान, भक्ति और कर्म; शील, समाधि और प्रज्ञा; सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र यह मोक्षमार्ग है। शब्दों में अन्तर होने पर भी भाव सभी का एक जैसा है। शब्दजाल में न उलझकर सत्य तथ्य की ओर ध्यान दिया जाये तो भारतीय दर्शनों में मोक्ष और मोक्ष मार्ग में कितनी समानता है, यह सहज ही परिज्ञात हो सकेगा।

---

१ फिलॉसफी बिगिन्स इन वण्डर

२ दर्शन का प्रयोजन, पृ० २९—डा० भगवानदास

३ (क) अथातो धर्मजिज्ञासा—वैशेषिकदर्शन ६

(ख) दुःख त्रयाभिधाताज् जिज्ञासा—सांख्यकारिका १, ईश्वरकृष्ण

(ग) अथातो धर्मजिज्ञासा—मीमांसासूत्र १, जैमिनी

(घ) अथातो ब्रह्मजिज्ञासा—ब्रह्मसूत्र १।१

४ देखिए, भगवती आदि जैन आगम

५ अध्यात्म विचारणा, पृ० ७४, पं० सुखलालजी संघवी, गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद

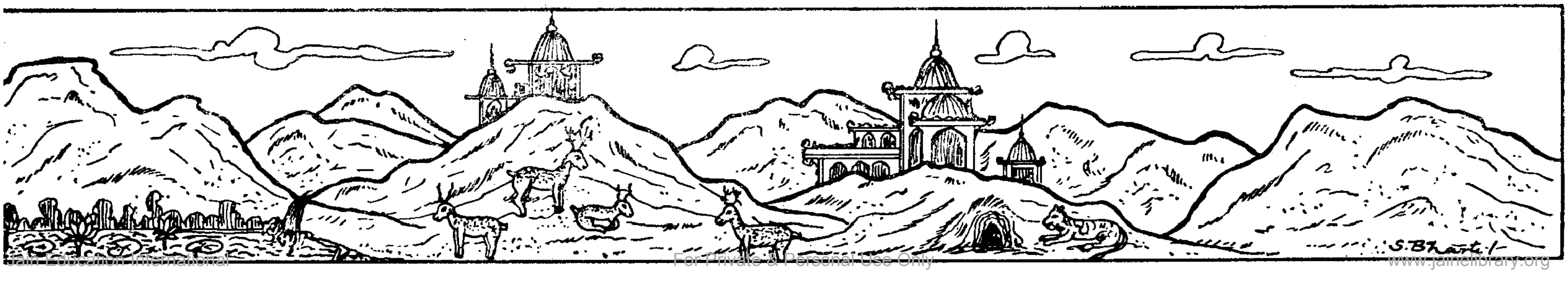

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६ (क) मुण्डकोपनिषद् १।१।६ (ख) वैशेषिकसूत्र ७।१।२२ (ग) न्यायमञ्जरी (विजयनगरम्) पृ० ४६८
(घ) प्रकरण पंजिका, पृ० १५८

७ (क) बृहदारण्यक उपनिषद् ५।६।१ (ख) छान्दोग्य उपनिषद् ५।१८।१ (ग) मैत्री उपनिषद् ६।३८

८ अध्यात्म विचारणा पृ० ७५

९ (क) आत्यन्तिकी दुःख निवृत्तिः (मोक्षः), (ख) (मोक्षः) चरम दुःखध्वंसः—तर्कदीपिका

१० न्यायसूत्र १।१।२ पर भाष्य।

११ तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः।—वैशेषिकसूत्र ५।२।१८

१२ (मोक्षः) आत्यन्तिको दुःखाभावः।—न्यायवार्त्तिक

१३ (क) तदेवं धिषणादीनां नवानामपि मूलतः।
गुणानामात्मनोध्वंसः सोपवर्गः प्रतिष्ठितः॥ —न्यायमञ्जरी, पृष्ठ ५०८
(ख) तदत्यन्त विमोक्षोऽपवर्गः।—सभाष्य न्यायसूत्र १।१।२२

१४ स्याद्वादमञ्जरी, पृ० ६३

१५ वरं वृन्दावने रम्ये क्रोष्टृत्वमभिवाञ्छितम्।
नतु वैशेषिकीं मुक्तिं गौतमो गन्तुमिच्छति।—स्याद्वादमञ्जरी में उद्धृत, पृ० ६३

१६ भारतीय दर्शन में मोक्ष-चिन्तन, एक तुलनात्मक अध्ययन—डा० अशोककुमार लाड, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, ९७ मालवीय नगर, प्र० संस्करण १९७३

१७ तस्मान्नबध्यतेनाऽपि मुच्यते नाऽपि संसरति कश्चित।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृति। —सांख्यकारिका ६२

१८ अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्यय।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्राऽवस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते॥ —गीता १३।३१–३२

१९ अध्यात्म विचारणा के आधार से, पृ० ८४

२० भारतीय दर्शन—डा० बल्देव उपाध्याय

२१ हिस्ट्री ऑफ फिलासफी—ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न, वोल्यूम, पृ० २१२

२२ हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी, पृ० ३२८

२३ सिस्टम्स आफ बुद्धिस्टिक थॉट, पृ० ३१

२४ भारतीय दर्शन, भाग—१, पृ० ४११–१४

२५ (क) धम्मपद १५४
(ख) देखें—संयुक्त निकाय के ओघतरण सुत्त, निमोक्ख सुत्त, संयोजनसुत्त तथा बंधन सुत्त।

२६ एन० के० भगत : पटना युनिवर्सिटी रीडरशिप, लेक्चर्स १९२४–२५ पृ० १६५

२७ संयुक्त निकाय खेमाथेरी सुत्त

२८ भारतीय दर्शन, भाग—१, पृ० ४१६–४१७ —डा० राधाकृष्णन, द्वि संस्करण

२९ उस्सेहो जस्स जो होइ भवम्मि चरिमम्मि उ।
तिभागहीणा तत्तो य सिद्धाणोगाहना भवे॥—उत्तराध्ययन ३६।६५

३० मिलिन्द प्रश्न ४।८।९२—९४

३१ (क) उड्ढं पक्कमई दिसं—उत्तराध्ययन १९।८२
(ख) प्रशमरति प्रकरण २९४ का भाष्य
(ग) तदनन्तरमेवोर्ध्वमालोकान्तात् स गच्छति पूर्वप्रयोगासङ्गत्वबन्धच्छेदोर्ध्वगौरवैः कुलालचक्रडोलाया······सिद्ध-गति स्मृताः।—तत्त्वार्थराजवार्त्तिक।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३२ चरकसंहिता स्थान अ० १ श्लो० १२८—३०

३३ यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहं रोगो रोगहेतुः आरोग्य भैषज्यमिति एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव । तद्यथा—संसार, संसार हेतुः मोक्षो मोक्षोपाय इति —योगदर्शन भाष्य २१—१५

३४ हेयं दुःखमनागतम् ।—योगदर्शन साधन पाद १६

३५ द्रष्टृ दृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ।—वही १७

३६ तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ।—वही २५

३७ विवेकाख्यातिरविप्लक हानोपायः ।—वही २६

३८ हेयं तस्य निर्वर्तकं हानमत्यन्तिकं तस्योपायोऽधिगन्तव्य इत्यंतानि चत्वार्यर्थपदानि सम्यग् बुद्धवा निःश्रेयसमधिगच्छति—न्यायभाष्य १, १, १,

३९ मज्झिमनिकाय—भयभेख सुत्त ४

४० अविद्यास्मिता रागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः ।
अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्त तनु विच्छिन्नो दाराणाम् ।—योगदर्शन २।३-४

४१ सांख्यकारिका ४७-४८

४२ देखिए प्रशस्तपाद भाष्य, संसारापवर्ग

४३ (क) दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः—न्यायसूत्र १।१।२
तत्त्रेराश्यं रागद्वेष मोहान्तर भावात् ।—न्यायसूत्र ४।१।३
तेषां मोह यापीयान्नामूढस्येतरोत्पत्तेः—न्यायसूत्र ४।१।६
(ख) न्यायसूत्र का भाष्य भी देखें ।

४४ अविद्यायामन्तरेवर्तमानाः स्वयं धीराः पंडितं मन्यमानाः
दन्डम्यमाणाः परियन्ति मूढाअन्धेनैवनीयमाना यथा अन्धा ।—कठोपानिषद् १।२।५
अज्ञानेनावृत्तं ज्ञानं तेन मुह्यति जन्तवः
ज्ञानेन तु तदज्ञानं यषां नाशितमात्मनः ।।

४५ तेषामादित्यवज्ज्ञान प्रकाशयति तत्परम् ।—श्रीमद्भगवद्गीता ५।१५

४६ मज्झिम निकाय महा तन्हा संखय सुत्त ३८

४७ विशुद्धि मग्ग १।७

४८ मज्झिम निकाय सम्मादिट्ठि सुत्तन्त ९

४९ मग्गानं अट्ठङ्गिको सेट्ठो ।

५० विशुद्धि मार्ग ।

५१ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।—तत्त्वार्थ सूत्र १।१

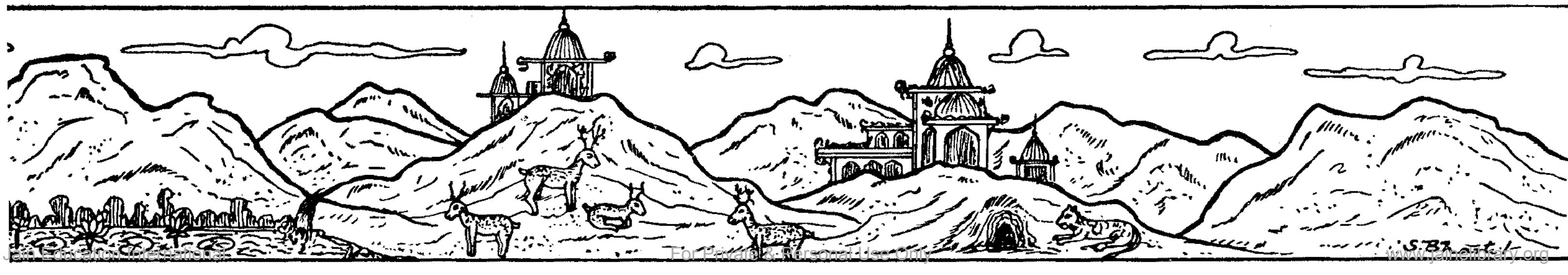

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org